

द्वंद्व और चेतना

अ. : आप कहते हैं कि स्मृति मस्तिष्क की कोशिकाओं का एक कार्य है। क्या मस्तिष्क की कोशिकाओं में बुद्धि के स्रोत के रूप में ऐसी कोई तर्कसिद्ध क्षमता होती है जिससे वे खुद ही स्वयं को निःशब्द कर सकें?

कृ. : कल हम इस बारे में बातचीत कर रहे थे कि संबोधि या निर्वाण के साधन के रूप में ज्ञान को क्यों महत्त्वपूर्ण बना दिया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि केवल पूर्व में ही नहीं, बल्कि पश्चिम में भी हर धार्मिक शिक्षक ने ज्ञान पर बल दिया है और चूंकि इस देश में परंपरा इतनी सशक्त रही है, इसलिए यह पता लगाया जाना सचमुच बहुत ज़रूरी है कि संबोधि में इस समूची प्रणालीबद्ध विचारधारा की क्या भूमिका है। संबोधि में परिवेशगत-संस्कारबद्धता की भूमिका का कितना योगदान है? संस्कृति, तथा संस्कृतिजनित संस्कारबद्धता किस तरह से अस्तित्व में आती है? आपको समूची पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना होगा। एक पारंपरिक दृष्टिकोण को, उदाहरण के लिए नागार्जुन या शंकर के दृष्टिकोण को लें, और वहां से आगे बढ़ें।

अ. : परंपरावादी कहते हैं कि समस्त कर्म, सारी गतिविधि का प्रारंभ कारणों से होता है तथा ये कारण ज्ञात हैं।

कृ. : आप एक गलत वक्तव्य दे रहे हैं - किसी तय कारण से किसी खास गतिविधि का होना। ऐसी कोई चीज नहीं होती।

अ. : यह इस सूत्र से शुरू होता है : आचरण के समस्त प्रकट रूप - ऐसा कहा जाता है कि आपको इन समस्त प्रकट रूपों के उद्गम को बुद्ध ने प्रदान किया है। यदि आप कारण जान लेते हैं तो कारण का निरसन कर सकते हैं। यह बुद्ध का एक वक्तव्य है। कारण को समझने पर आप उससे छुटकारा पा सकते हैं और कारण, उन्होंने आपसे कह दिए हैं। प्रकट रूप लेने वाले सारे विचार या आचरण कारण-कार्य के क्षेत्र में होते हैं।

कृ. : मुझे इस पर संदेह है। हम देखते हैं कि कभी जो कारण था वही कार्य बन जाता है और कार्य कारण बन जाया करता है। जैसे बांजफल के बीज से बांज का वृक्ष पैदा होना। हम सोचते हैं कि कारण-कार्य के इसी नियम से कर्म संचालित होता है। लेकिन यदि कारण पहले ही सुनिश्चित होता हो तो सभी-कुछ सुनिश्चित रहता। उस स्थिति में व्याख्या करना या अन्वेषण करना संभव न होता। क्या कहीं कोई स्थिर बिन्दु होता भी है या केवल एक अनवरत गतिविधि भर होती है, जिसे समझ पाना मन तथा मस्तिष्क के सामर्थ्य के बाहर है? और इसलिए मन कहता है कि कारण है तथा कार्य है और मन उस ढांचे में बंध जाया करता है।

अ. : क्या कारण-कार्य जैसी कोई चीज होती है? यदि कारण-कार्य जैसी कोई शृंखला होती हो तो आप उसे किसी भी बिन्दु पर रोक सकते हैं। शृंखला को कारण के बिन्दु पर रोक देना ही इसकी कुंजी है, जहां पर कार्य, कारण बन जाता है।

कृ. : इसे कौन रोकेगा? कल आपने मेरा अपमान किया, वह कारण है। हो सकता है कि पहले कभी मैंने आपका अपमान किया होगा जिसके परिणामस्वरूप मेरा अपमान किया गया, और पुनः प्रतिक्रिया करने से कृत्यों,

बदलावों की शृंखला बन गई जो हर वक्त जारी रहती है। जब आप मेरा अपमान करते हैं, यदि उसी क्षण मेरा मन पूरी तरह सजग है तो कारण-कार्य का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। आप मेरा अपमान करते हैं; इस अपमान का प्रत्युत्तर उस पुराने मस्तिष्क से आता है जिसने स्वयं को विभक्त कर रखा है और जो किसी ढांचे के अनुसार कार्यरत है। अपमान के समय पुराना मस्तिष्क प्रत्युत्तर न दे, इसके लिए पूर्ण अवधान होना चाहिए। उस अवधान युक्त क्षण में कारण-कार्य नहीं रहता।

अ. : अवधान नहीं रहने पर जो प्रत्युत्तर आता है वह किसी दूसरी शृंखला का कारण बन जाता है। अतः जहां कोई कार्य स्वयं को नये कारण की तरह उत्पन्न कर लेता है, वहीं वह कृत्य संभव होता है जो भिन्न प्रकार का हो।

कृ. : मैं ऐसा नहीं सोचता। मैंने अनजाने में आपकी उपेक्षा कर दी और इससे आपका अपमान हुआ। इससे आपको ठेस लगी और आप मुझे ठेस पहुंचाना चाहते हैं। मेरे द्वारा आपका अभिवादन न किए जाने का कारण शायद यह रहा होगा कि मैं उस समय पक्षियों को, उनके पंखों की गतिविधियों को देख रहा था। चूंकि मैं कलाकार हूं, और चाह रहा था कि उस पक्षी का, उसकी सारी गतिविधियों सहित ठीक से निरीक्षण करूं। अतः मैं आपका अभिवादन न कर सका। कारण तथा कार्य इसमें कहां हैं?

ज. : कारण अपने ही भीतर होता है।

कृ. : उस गतिविधि का निरीक्षण स्वयं के भीतर नहीं होता।

ज. : अपमान-बोध मेरे भीतर पैदा होता है, आपके भीतर नहीं।

कृ. : अनजाने में ही मैंने आपको अपमानित होने की वजह दे दी।

ज. : मुझे जिस कारण से अपमान महसूस हुआ वह मेरे ही भीतर है, कारण और कार्य मुझमें ही हैं।

कृ. : आप कह रहे हैं हालांकि मैंने आपका अभिवादन नहीं किया फिर भी तथ्य यह है कि अपमान का बोध आपके अंदर पैदा हुआ; यह आपको किसी ने दिया नहीं। मैं इस बारे में निश्चित नहीं हूं।

अ. : यदि मुझे आपसे स्नेह है और मैं देखता हूं कि आप पक्षियों का अवलोकन कर रहे हैं तो मैं समझ जाऊंगा, लेकिन यदि मुझमें स्नेह नहीं है तो मैं आपको दोष दूंगा। इसलिए कारण का अस्तित्व तो सदैव भीतर ही होता है।

कृ. : जी, आपकी बात मैं समझ रहा हूं।

अ. : यह हमेशा अपने-आपसे ही संबंधित कोई चीज होती हो ऐसा ज़रूरी नहीं। यह कारण अमुक के भीतर सक्रिय होता है, यूं कहने के बजाय, इस बारे में सामान्य नियम यह है कि इस तरह समूची घटना, न जानने अर्थात् अविद्या की आधारभूमि के भीतर कार्यशील हो उठती है। अब आप 'मैं' के दायरे में आते हैं। क्योंकि मनुष्य ने जो कुछ भी किया है अविद्या में ही उस सबके संस्कार (प्रवृत्तियां) हैं। उससे ही चेतना का उद्भव होता है और चेतना से ही नाम देने की प्रवृत्ति (नामकरण) पैदा होता है। इनके बाद देह तथा छः ज्ञानेन्द्रियों का क्रम आता है। तब आप देख पाते हैं। इसलिए शुरुआत सीधे 'मैं देखता हूं' इस बिन्दु से नहीं होती बल्कि केवल उसी क्रम से होती है। कारण को यहां व्यापक वैश्विक अर्थ में इस्तेमाल किया गया है।

ज. : शंकर कहते हैं कि अविद्या की शुरुआत कैसे हुई इस बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता और वे कारण के सिद्धांत को अस्वीकृत करते हैं। कारण-कार्य को समाप्त किया जा सकता है। आप और आगे बढ़ सकें, इससे पहले बुद्धि को खत्म कर लेना होता है।

कृ. : क्या यह ज़ेन का हिस्सा है?

अ. : जी नहीं सर! यह ज़ेन से संबंधित नहीं है। प्रज्ञा की जागृति कोई लोकोत्तर घटना नहीं है।

ज. : आप बुद्धि की उपेक्षा नहीं कर सकते। हमें नहीं मालूम कि प्रक्रिया शुरू कैसे हुई लेकिन हम उसका अंत कर सकते हैं।

कृ. : अविभाजित कोशिका से मनुष्य जाति के अस्तित्व में आने तक यह प्रक्रिया गतिशील रहती है।

अ. : जीव-विज्ञानी की पहुंच प्रकट व्यक्त से परे नहीं जाती है। इस बारे में अनुमान गलत होगा।

कृ. : अज्ञान है, साथ ही दूसरी ओर बोध, संवेदन भी है।

अ. : 'संस्कार' वह है जिसे 'एकत्रित' किया गया है।

कृ. : कालक्रम में एकत्रित-रचित, जिसका मतलब हुआ विकासक्रम।

अ. : अगला बिन्दु आता है 'विज्ञान', जो कि चेतना है।

कृ. : क्या 'चेतना' संस्कार से भिन्न कोई चीज है? जो (कालक्रम में) निर्मित हुई, वही तो चेतना है?

अ. : नहीं सर, वह तो आधारभूमि ('मैट्रिक्स') है। उसी के अंतर्गत आपकी चेतना है, मेरी चेतना है।

कृ. : आइए, इसका पता लगाएं।

अ. : आधारभूमि हम सबके लिए एक समान है।

कृ. : आपके मतानुसार 'संस्कार' कोई ऐसी चीज है जिसे जोड़कर बनाया गया है।

अ. : शब्दशः इसका अर्थ होगा 'प्रवृत्तियां'।

कृ. : मैं यह पूछ रहा हूं चेतना क्या है? चेतना अपनी अंतर्वस्तुओं से मिलकर बनती है। अंतर्वस्तु के बिना क्या चेतना का अस्तित्व होता है? चेतना की अंतर्वस्तु ही चेतना है, सदियों से यह अंतर्वस्तु संचित होती आ रही है।

अ. : अंतर्वस्तु ही सब-कुछ होती है या यह चेतना का केवल एक हिस्सा भर है?

कृ. : मैं देखता हूं कि मेरी समूची संस्कारबद्धता ही चेतना का आकार ग्रहण कर लेती है।

अ. : मनुष्य अनेक-अनेक वर्षों से अस्तित्व में है। वह आधारभूमि उसकी चेतना के अस्तित्व में आने से पहले ही विद्यमान थी।

कृ. : अविभक्त कोशिका से विचार का आरंभ हुआ। मनुष्य पैंतीस हजार वर्षों से भी अधिक समय से जी रहा है; इस अवधि में उसने सभी तरह के अनुभव एकत्रित किए हैं। वह सब ही चेतना है।

अ. : उससे ही चेतना का आगमन हुआ है।

कृ. : मैं इन दोनों को अलग-अलग नहीं करता। उन दोनों में फर्क नहीं है। यदि अंतर्वस्तु नहीं तो चेतना नहीं है। चेतना में अनेक खंड हैं; यह केवल एक टोस अंतर्वस्तु नहीं है। इसमें अलग-अलग तल, गतिविधियां, रुझान, विशिष्टताएं होती हैं - वही सब समूची चेतना है। उस समूची चेतना का एक हिस्सा, एक अंश अपने आपको महत्त्वपूर्ण मान लेता है। फिर वह कहता है मैं चेतना हूं, मैं चेतना नहीं हूं; मैं यह हूं, मैं यह नहीं हूं।

अ. : आपने भिन्न-भिन्न तलों से युक्त चेतना और उस बिन्दु में विभेद किया है, जहां आकर यह चेतना कहती है : मैं भिन्न हूं। उस बिन्दु पर यह भिन्न हो जाती है।

राधा बर्नियर (रा.) : वहां 'मैं' तथा 'मैं नहीं' का विभाजन है।

अ. : इसके अलावा आधारभूमि तथा स्व के बीच भी कुछ भिन्नता होती है।

कृ. : देखिए, चेतना की अंतर्वस्तु चेतना है। अंतर्वस्तु यदि नहीं है तो चेतना भी नहीं रहती। अंतर्वस्तु की रचना विभिन्न वर्गीकरणों जैसे, मेरा परिवार, आपका परिवार इत्यादि सारी बातों से होती है, यह टुकड़ों से मिलकर बनी है। कोई एक टुकड़ा स्वयं को अन्य टुकड़ों से अधिक महत्त्वपूर्ण मान लेता है।

रा. : शास्त्रीय ढंग से इसे इन शब्दों में कहा जाता है : आभास कल्पना कर लेता है कि वह आदिरूप ('प्रोटोटाइप') है।

अ. : जैसे ही कोई केंद्र बनता है, वैयक्तिकता प्रारंभ होती है।

कृ. : सतर्क रहें। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'वैयक्तिक' (इंडीविजुअल) का तात्पर्य है "वह जो अपने आपमें अविभाजित, अखंडित है", अर्थात् जो खंडित नहीं है। इसलिए एक अंश वर्चस्व स्थापित करते हुए आलोचना करने की ताकत हासिल कर लेता है, यह नियामक ('सेंसर') बन जाता है - सब कुछ उसी क्षेत्र में होता है जिसे हम चेतना कहते हैं।

अ. : चेतना के तादात्म्य रहित होने की स्थिति में क्या होता है?

कृ. : तादात्म्य के बारे में मैं कुछ नहीं जानता।

अ. : तादात्म्य का अर्थ यह है कि मैं अपने आपको अंश विशेष से एक मानने लगूं। अलगाव का बिन्दु वही है।

कृ. : किसी भी बात का आग्रह न करें। चेतना की अंतर्वस्तु चेतना है, और जब अंतर्वस्तु नहीं होती तो चेतना भी नहीं होती। उस अंतर्वस्तु में द्वंद्व और विभाजन के शक्तिशाली कारक तत्त्व मौजूद होते हैं। एक अंश वर्चस्व स्थापित कर लेता है, दूसरा असुरक्षा महसूस करता है, और किसी भी अन्य अंश से तादात्म्य नहीं कर पाता; वह अंश तादात्म्य बना लेता है जो ऐसा कहता है : मुझे यह पसन्द है और वह पसन्द नहीं है। इस प्रकार के व्यापक द्वंद्व वहां होते हैं।

रा. : वह 'मैं' क्या है?

अ. : यह मेरा अपना ही अतीत है।

ज. : 'मैं' वह अंश है।

अ. : बुद्ध ने कहा है कि 'मैं' समस्त प्रभावों का जोड़ है, यह उन प्रभावों का समुच्चय है, जिसने अपनी एक पहचान बना तो ली है लेकिन इसका कोई यथार्थ स्वरूप नहीं है।

रा. : चेतना है तथा इसमें अत्यधिक विविधता है।

कृ. : इसमें अनेक खंड हैं। उनमें से ही एक खंड महत्त्वपूर्ण बन जाता है और फिर उसका महत्त्व बढ़ता चला जाता है। ऐसा किस तरह होता है? मैं कुछ देख रहा हूँ। विखंडन के इस पूरे क्षेत्र में, जो कि चेतना है, 'मैं' कब अस्तित्व में आता है?

अ. : चेतना के क्षेत्र में अपनी उपस्थिति का संकेत क्या यह पहले से ही नहीं देता है? जो 'मैं' उत्पन्न होता है वह प्रसुप्त दशा में पहले भी मौजूद था।

कृ. : ये सारे खंड हैं। मन उन्हें ज्यों-का-त्यों क्यों नहीं छोड़ देता? मैं देखता हूँ कि मेरी चेतना अनेक खंडों से मिलकर बनी है, मन उन्हें अकेला क्यों नहीं छोड़ देता? क्या होता है तब?

अ. : तादात्म्य।

कृ. : विखंडन है, विसंगति है, और द्वंद्व है। उस द्वंद्व में ही द्वंद्व को मिटाने की इच्छा है।

अ. : जब द्वंद्व होता है और मैं यदि उससे तादात्म्य नहीं करूँ तो मुझे यह प्रभावित नहीं करता। उस स्थिति में वह द्वंद्व नहीं रहता।

कृ. : चेतना में सिर्फ द्वंद्व, अंतर्विरोध और विसंगति है। जहां अंतर्विरोध और विसंगति है वही द्वंद्व का क्षेत्र है। जहां खंड है, प्रत्येक खंड दुविधा, क्लेश, सुख, दुख, उद्विग्नता, हताशा पैदा करेगा। वही तो क्षेत्र है। इसके बाद क्या होता है?

अ. : मैं इसका अंत करना चाहता हूँ।

कृ. : यहां पर चेतना की यह संपूर्ण संरचना एक युद्धक्षेत्र है।

अ. : आप ऐसा क्यों कहते हैं? चेतना सामंजस्यरहित तत्त्वों से भरी है। 'द्वंद्व' शब्द का इस्तेमाल करते ही मैं अपना तादात्म्य कर चुका होता हूँ।

कृ. : चेतना का यह क्षेत्र चूंकि विभाजित है, इसलिए द्वंद्व का स्रोत है। भारत और पाकिस्तान; मैं हिन्दू हूँ तथा आप मुस्लिम हैं। तथ्य यह है कि विभाजन अनिवार्य रूप से द्वंद्व लाता है।

अ. : नामकरण होने तक ऐसा होता है। नामकरण गुणवत्ता को बदल देता है।

कृ. : द्वंद्व के क्षेत्र को देखें। वहां विभाजन है। जहां विभाजन है, वहां द्वंद्व निश्चित है - मेरा परिवार, आपका परिवार, मेरा ईश्वर, आपका ईश्वर।

अ. : क्या हर विभाजित खंड बोधयुक्त हो जाता है?

कृ. : मैं यह तथ्य देखता हूँ कि जहां भी विभाजन है, वहां द्वंद्व भी अवश्य है। इस चेतना में, जहां इतने सारे खंड हैं, द्वंद्व तो अवश्य होगा। व्यावहारिक जगत में वह एक हिन्दू है और मैं एक मुसलमान हूँ, और इससे युद्ध तथा वैमनस्य पनपते हैं। यह एक सीधा, प्रत्यक्ष परिणाम है। हम सभी एकता की बातें करते हैं और अपने विभाजनों को भी ज्यों-का-त्यों बनाए रखते हैं!

देखिए सर, होता क्या है। इस क्षेत्र में द्वंद्व है, विसंगति, विखंडन, विभाजन है। जब द्वंद्व उग्र हो जाता है तो 'मैं' तथा 'तुम' का आगमन होता है, नहीं तो मैं इसे वैसे ही रहने देता हूँ। मैं इस द्वंद्व के साथ-साथ बहता रहता हूँ, लेकिन द्वंद्व के उग्र होते ही संघर्ष भड़क उठता है। हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष में मैं हिन्दू होता हूँ, तथा आप मुस्लिम होते हैं और इसलिए किसी ऐसी चीज से अपना तादात्म्य कर लिया जाता है जिसे मैं उच्चतर मानता हूँ - ईश्वर से, राष्ट्रों से, मान्यताओं आदि से।

जब तक द्वंद्व क्षीण होता है तब तक मैं इसे महत्त्व नहीं देता। चारों ओर की दुनिया को देखें। हर कोई मानो किसी सपने में खोया हुआ सा चल रहा है, और अचानक पाकिस्तान हमला करता है और आप तादात्म्य कर लेते हैं। मैं यह कहना चाहता हूँ कि जब तक द्वंद्व नहीं होता, तब तक 'मैं' नहीं होता। इसलिए हमारा कहना यह है कि द्वंद्व ही 'मैं' का पैमाना है। बीते कल में द्वंद्व नहीं था, आज द्वंद्व है और मुझे उम्मीद है कि आनेवाले कल में द्वंद्व नहीं होगा। यही गतिविधि 'मैं' है। यही 'मैं' का साररूप है।

अ. : और भी बहुत से पहलू हैं।

कृ. : यदि किसी वृक्ष की हजार शाखाएं हों तो भी क्या वृक्ष शाखाओं से भिन्न होता है? चेतना की संरचना इस द्वंद्व पर ही आधारित है। द्वंद्व का अंत कैसे करें, फिलहाल हम इस पर चर्चा नहीं कर रहे हैं।

रा. : पारंपरिक दृष्टिकोण यह है : विभाजन 'मैं' है, तथा द्वंद्व से अलगाव भी 'मैं' है।

अ. : जब तक द्वंद्व छिपा रहता है, दिखाई नहीं देता, तब तक 'मैं' नहीं होता।

रा. : इस सबकी शुरुआत यहीं से होती है, या 'मैं' किसी और गहरे तल से उठता है?

कृ. : क्या सचमुच ऐसा कोई स्व, कोई 'मैं' होता भी है जिसका अध्ययन किया जाना हो, या 'मैं' एक गति मात्र है?

अ. : आप कहते हैं कि 'मैं' चेतना में एक गति की तरह से शुरू होता है।

कृ. : जी नहीं। एक ऐसी मान्यता है कि 'मैं' स्थायी है। क्या ऐसा है? क्या 'मैं' ऐसी कोई वस्तु है जिसके बारे में कुछ सीखा जाता हो? या 'मैं' एक गति है? क्या मैं किसी चीज के बारे में सीखता हूँ, या उस गति में सीखना होता जाता है। पहले वाली बात होती ही नहीं, वह असत्य, कल्पनाजनित है। इसलिए केंद्रीय तथ्य है विभाजन। वही सारे द्वंद्व का स्रोत है। हो सकता है द्वंद्व अलग-अलग रूप ले, भिन्न-भिन्न तलों पर हो, पर बात एक ही है। द्वंद्व सुखद भी लग सकता है : हो सकता है अपनी पत्नी द्वारा धमकाया जाना, पीटा जाना मुझे अच्छा लगता हो, लेकिन वह सुख भी द्वंद्व की ही बनावट का एक हिस्सा है।

रा. : द्वंद्व चेतना की प्रकृति है।

कृ. : यह इसकी प्रकृति नहीं बल्कि चेतना स्वयं द्वंद्व है। यदि मुझमें द्वंद्व नहीं है तो मेरा क्या होता है?

अ. : आप कहते हैं कि यदि द्वंद्व नहीं है, तो मैं भी नहीं होता। क्या इसका मतलब यह है कि द्वंद्वशून्यता की अवस्था चेतनारहित होती है?

रा. : द्वंद्वशून्यता की अवस्था द्वंद्व से परे होती है। हम जिस आयाम में जीते हैं वह द्वंद्व है।

अ. : सर, मेरा कहना है कि द्वंद्व की प्रबल अवस्था में नामकरण शामिल है।

कृ. : नाम (विशेषण) देने की समूची प्रक्रिया इसमें शामिल है। जब तक द्वंद्व उग्र रूप नहीं लेता, आम आदमी उसके साथ बहता रहता है।

अ. : द्वंद्व के प्रबल होते ही नामकरण शुरू हो जाता है।

कृ. : नाम देना क्या है? हमें नामकरण की ज़रूरत पड़ती ही क्यों है? मैं क्यों कहता हूँ : 'मेरी पत्नी', क्यों? इसकी खोजबीन करें।

अ. : एक तल पर तो ऐसा संवाद के लिए होता है, जबकि एक अन्य तल पर यह सूक्ष्म तात्पर्य रखता है।

कृ. : मैं क्यों कहता हूँ : वह मेरी पत्नी है?

अ. : क्योंकि मैं उस स्थिति में एक सातत्य चाहता हूँ।

कृ. : सर, मैं क्यों कहता हूँ 'मेरी पत्नी'?

अ. : सुरक्षा के लिए - मैं उस पर अपना अधिकार बनाए रखना चाहता हूँ।

कृ. : देखिए, मैं कहता हूँ कि शब्द वह चीज नहीं है, कभी भी नहीं। शब्द संप्रेषण के लिए साधन भर होता है। तथ्य शब्द नहीं होता। वह मेरी पत्नी है, यह तथ्य कानूनी तौर से भले ही सत्य हो किन्तु जब मैं यह कहता हूँ तो मैंने दरअसल क्या किया होता है? मैं इसे नाम क्यों दे देता हूँ? क्या इसीलिए कि मैं उसे सातत्य दे सकूँ? जो प्रतिमा मैंने बना रखी है उसे मजबूती प्रदान कर सकूँ? मैं उस पर अपना स्वामित्व समझता हूँ, या वह मुझ पर अपना स्वामित्व समझती है, ताकि यौन-तुष्टि, सुविधा इत्यादि जारी रहे। यह सब कुछ उसके बारे में बनी प्रतिमा को सृष्टि बनाता है। वह मेरी है, यह तय करने में प्रतिमा के होने से मदद मिलती है। इस दौरान उसमें बदलाव आ रहा होता है, वह किसी अन्य पुरुष की ओर देखने लगती है। मैं उसकी स्वतंत्रता मान्य नहीं करता, सिर्फ यही नहीं, बल्कि मैं यह भी मान्य नहीं करता कि मैं स्वतंत्र हूँ। इस प्रकार जब मैं कहता हूँ कि वह मेरी पत्नी है तो मैंने क्या किया होता है?

अ. : आप यह कह रहे हैं कि हमें गतिशीलता पसन्द नहीं है और हम यह चाहते हैं कि सभी कुछ स्थिर रहे।

कृ. : मैं उस पर स्वामित्व बनाए रखना चाहता हूँ और यही कारण है कि मुझे उसकी ज़रूरत है। मस्तिष्क की कोशिकाएं आदत का कोई तय ढांचा स्थापित कर लेती हैं और आदत को छोड़ने से इनकार कर देती हैं।

अ. : आप यह जो कह रहे हैं कि हमारी समूची चेतना शब्द ही शब्द है, जानकारी मात्र है, इसे मैं समझना चाहूंगा।

कृ. : ज्ञान को एकत्रित किया गया है, यह एक प्रक्रिया है। प्रक्रिया समय की सूचक है। समय विचार का सूचक है। इस तरह विचार के सहारे से, जानकारी और काल के जरिये आप किसी ऐसी चीज को पाने की कोशिश कर

रहे हैं जो काल से परे है, जो ज्ञान नहीं है, जो विचार नहीं है। आप उसे नहीं पा सकते।

अ. : जिस समूची प्रक्रिया का हमने वर्णन किया है उसका अशाब्दिक होना भी ज़रूरी है।

कृ. : हम शब्दों का इस्तेमाल पारस्परिक संवाद के लिए करते हैं। दो लोगों के बीच की किसी समान चीज में सहभागिता के लिए करते हैं। मनुष्यों में हताशा, क्षोभ, दुख आदि समान तत्त्व होते हैं। क्या इसका निवारण समय के माध्यम से किया जा सकता है, या यह तत्क्षण ही संभव है? क्या इस प्रक्रिया का अंत शब्दों के द्वारा होगा, या शब्दों के बिना? शब्द महत्त्वपूर्ण नहीं है। आप सर्वाधिक स्वादिष्ट भोजन का वर्णन करें लेकिन वर्णन भोजन नहीं होता। शब्द वह चीज नहीं, लेकिन उस चीज को समझने के लिए हमें शब्द का इस्तेमाल करना पड़ता है। शब्दों को हम इतना महत्त्वपूर्ण क्यों बना देते हैं?

अ. : संवाद हो सके, इसके लिए शब्दों की ज़रूरत तो होती ही है।

कृ. : संवाद हो सकना, समान महत्त्व की किसी समस्या में सहभागिता हो पाना कब संभव होता है?

अ. : यह शब्दों के बिना हो सकता है।

कृ. : मेरी दृष्टि में, संवाद का तात्पर्य है परस्पर सहभागी होना, सहचिन्तन, मिलकर सृजन करना, समझना। हम संग-संग कब होते हैं? निश्चित ही, ऐसा सिर्फ शाब्दिक तल पर नहीं होता। जब हम एक जैसी तीव्रता के साथ, समान स्तर पर अथाह ऊर्जा से, प्रखर उमंग से भरे होते हैं, तो किसी समस्या को समझने में एक साथ सहभागी होते हैं। ऐसा कब होता है? ऐसा तब होता है जब आप किसी चीज से प्यार करते हैं। जब आप प्यार करते हैं तो बात खत्म हो जाती है। मैं आपको चूम लेता हूँ, आपका हाथ थाम लेता हूँ और बात पूरी हो जाती है। लेकिन जब हममें वह बात नहीं होती तो हम शब्दों के इर्द-गिर्द मंडराते रहते हैं। मुझे यकीन है कि सारे शास्त्रवादी उस चीज से वंचित रह जाते हैं।

अतः कैसे मिलें, एक ही घड़ी में, एक ही तल पर, समान आवेग सहित कैसे साथ आएँ? यही वास्तविक सवाल है। हम ऐसा तब करते हैं जब हममें काम-संवेग होता है जिसे हम प्रेम का नाम दे देते हैं। नहीं तो आप अपने लिए तथा मैं अपने लिए युद्धरत रहते हैं। समस्या यही है। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि मैं जो कि दुख में हूँ, कह सकूँ : हम साथ-साथ आएँ, इस पर गहराई से बातचीत कर लें - न कि नागार्जुन, शंकर और अन्य लोग क्या कहते हैं इस पर चर्चा करते रहें?

मद्रास ५ जनवरी १९७१

ट्रेडिशन एंड रेवोल्यूशन

अनुवाद : विनय वैद्य, शक्ति कुमार